समय, दूरी और बच्चे

प्रकाश कान्त

गणित की कक्षाओं में बच्चे समय और दूरी के सवाल हल करते रहे हैं। विभिन्न दूरियों को पार करने में लगने वाला समय और अलग-अलग अवधियों में पार की जाने वाली दूरियाँ! एक ट्रेन इतने किलोमीटर प्रति घण्टे की चाल से चलने पर इतने-इतने किलोमीटर चलने के लिए कितना समय लेगी? या एक बस इतने-इतने किलोमीटर पहुँचने में इतना समय लेती है तो उसकी प्रति घण्टा गति बताओ! इस तरह के प्रश्नों में निहित समय और दूरी की अवधारणाएँ तो बच्चे सामान्यतः समझ लेते हैं लेकिन जब इन चीज़ों को ज़्यादा बड़ी लम्बाई के पैमाने में फैलाया जाता है तब उन्हें उलझन होने लगती है। मेरा अपना अनुभव है कि खासकर छठी-सातवीं क्लास के बच्चे हज़ार तक की बात तो ठोस रूप से समझ लेते हैं। लाख तक का अनुमान भी कर लेते हैं लेकिन इससे आगे मतलब करोड़, दस करोड़ वगैरह उनकी कल्पना के बाहर होने लगते हैं। तब ये संख्याएँ उनके लिए सिर्फ संख्याभर रह जाती हैं। अरब, खरब वगैरह यह सब! आप कितने ही अरब, कितने ही खरब वगैरह की

बात कीजिए, उनका मीटर वहीं रुका रहेगा।

इसीलिए, जब उनसे कहा जाता है कि पृथ्वी की उम्र 454 करोड़ वर्ष है या सौर-मण्डल का उद्भव करीब 46 हज़ार लाख वर्ष पहले हुआ था तो यह सब सुनकर उनके दिमाग में इस विशाल समयावधि का चित्र स्पष्ट नहीं होता। इतिहास के समय से भूगोल का समय कहीं ज़्यादा बड़ा होता है। बल्कि कहा जाना चाहिए कि भूगोल के अन्तराल में इतिहास का समय जो कि मूलतः मनुष्य का समय है, वह एक बहुत ही छोटा हिस्सा है। ऐसे में जब लाखों साल पहले के हवाले देकर पृथ्वी और मनुष्य के विकास की बात की जाती है तो बच्चों को अपने दिमाग में इसका चित्र बनाने में मुश्किल होती है। वे इसे 'बहुत ज़्यादा पुराने' जैसे जुमले में बदलकर अपना काम चला लेते हैं। दूरी के साथ भी उन्हें यही दिक्कत होती है। ग्रहों की आपसी दूरियों और सूर्य से उनकी अलग-अलग दूरियों को लेकर। प्रकाश वर्ष के आधार पर बताई जाने वाली दूरियाँ तो उनकी तो छोड़ो, किसी की भी कल्पना के और भी बाहर होती हैं। ऐसे में सौर परिवार के चित्र में ग्रहों की सूर्य और एक-दूसरे से दूरियों को 'पास', 'ज़्यादा पास', 'दूर', 'ज़्यादा दूर' वगैरह जैसी शब्दावली में सीमित कर समझने की कोशिश होती है। मुझे लगता है, इस स्तर पर बच्चों से ज़्यादा उम्मीद की भी नहीं जानी चाहिए। संख्याएँ अपनी जगह हैं और उनके पीछे मौजूद अर्थ, उसका बोध अपनी जगह। यूँ भी, समय या दूरी के मामले में संख्याओं के स्थूल बोध तक सीमित रहकर भी उनका काम चल जाता है। भले ही, गणित में वे दशमलव और बीज गणित में संख्याओं के प्रातिनिधिक रूपों तक की कसरत करते रहते हों! वह सिर्फ संख्याओं की कसरत है। मैं संख्याओं के भीतर मौजूद उनके बोध और उसे महसूस करने की बात करना चाह रहा हूँ।

इतिहास में ईसा पूर्व और ईसा पश्चात् को लेकर भी झंझट रहती है। भूगोल में इसकी ज़्यादा ज़रूरत नहीं पड़ती। वहाँ समय सैकड़ों नहीं बल्कि हज़ारों, लाखों साल पुराना होता है। लेकिन इतिहास में तो गुप्त काल को फलाँगते ही ईसा पूर्व का झमेला शुरू हो जाता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता, बुद्ध, महावीर, अजातशत्रु, अशोक की बात करते ही समय ईसा पूर्व का बन जाता है। सामान्यतः बच्चे इसे सुन-पढ़ लेते हैं। और तमाम बातों की तरह सुने-पढ़े को मान भी लेते हैं। लेकिन कभी-कभी किसी के दिमाग में कोई नई हलचल भी होने लगती है।

अप्रैल की एक दोपहर और टॉवेल लपेटी दस्तक!

वह शायद सन् 1982 का अप्रैल था। स्कूल सुबह के हो चुके थे। मैं

और संजीवनी मानकुण्ड-अरलावदा के अपने-अपने स्कूलों से लौट चुके थे। दोपहर थी। तपने भी लगी थी। उस साल शायद थोड़ी जल्दी और ज़्यादा तपने लगी थी। हम लोग अरलावदा में रामदेवरा चौक से लगे हीरू भैया के घर में किराए से रहते थे जिसकी अगली पूरी दीवार पटियों की थी। गली सूनी थी। मैं अखबार देख रहा था। उसी वक्त दरवाज़े पर दस्तक हुई।

"सर, मैं डालाराम!" मेरे पूछने पर जवाब आया। मैंने खिड़की से झाँककर देखा। टॉवेल लपेटे बनियान पहना एक साँवला-सा लड़का। स्थानीय मिडिल स्कूल का छठी का छात्र। मैंने दरवाज़ा खोला। उसे अन्दर बुलाया। वह हिचकिचाया। वह शायद दरवाज़े से ही लौट जाने की तैयारी से आया था।

मेरे दो बार कहने पर भीतर आया। बैठने को कहने पर बैठा नहीं। उसके हाथ में मोटी-सी किताब थी। ध्यान से देखने पर जाना कि सामाजिक अध्ययन है – इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र। तीनों की संयुक्त पुस्तक। वह अरलावदा स्कूल का छात्र था और मैं मानकुण्ड स्कूल में था। और वह उस वक्त मेरे सामने था, एक सवाल के साथ! "सर, इस पाठ में लिखा है कि गौतम बुद्ध का जन्म सन् 563 ई.पू. में हुआ और मृत्यु 483 ई.पू. में! किसी भी व्यक्ति की मृत्यु पिछली तारीख में कैसे हो सकती है?"

उसकी आवाज़ में और चेहरे पर

जिज्ञासा थी। मैं कुछ पल बिना पलक झपकाए उसका साँवला चेहरा देखता रहा। मैं वाकई हैरान था कि छठी क्लास के लड़के के दिमाग में आखिर यह सवाल आया कैसे! मुझे हमेशा से लगता रहा था कि पूछे जाने वाले सवालों के आधार पर भी पूछने वाले व्यक्ति के बारे में बहुत कुछ जाना-समझा जा सकता है। कई बार जवाबों से ज़्यादा महत्वपूर्ण होते हैं सवाल। गैरमामूली सवाल चौंकाते हैं। भले ही उनके जवाब हों या न हों! कभी-कभी जवाबों का होना शायद उतना ज़रूरी होता भी नहीं। बहरहाल, उस वक्त मैं सोच रहा था कि उसके भीतर इस तरह का सवाल पैदा हुआ कैसे! न सिर्फ पैदा हुआ बल्कि अपने उस सवाल का जवाब जानने, गर्मी की भरी दोपहर वह अपने घर से मेरे यहाँ पूछने भी आया। मैं उसका चेहरा देख रहा था।

दरअसल, कई साल पढ़ाने के दौरान कभी किसी ने ऐसा सवाल पूछा नहीं था। सवाल की शक्ल में कभी इस तरह की बात दिमाग में आई नहीं! हकीकत तो यह थी कि अपनी पढ़ाई के दौरान खुद मुझे इस तरह के सवाल ने नहीं कुरेदा। मुझे क्या बल्कि मेरे साथ या आगे-पीछे पढ़ रहे किसी और साथी को भी नहीं परेशान किया। किसी को भी इस बात में कतई कुछ अजीब नहीं लगा कि कोई आदमी, मान लीजिए ई.पू. सन् 78 में पैदा हो और वह मरे सन् 18 ई.पू. में! हो सकता है, या होता है, या होता होगा, ऐसा ही कुछ!! यही रवैया था हम लोगों का। एक तरह का सहज स्वीकार। हमारी पूरी स्कूली शिक्षा, पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें वगैरह सभी कुछ एक विराट 'सहज स्वीकार' पर ही खड़े हैं। शिक्षा का सारा कारोबार इस तरह के सहज स्वीकार के भरोसे ही चल रहा है। पाठ्यपुस्तकों में लिखा है, कक्षा में शिक्षक द्वारा बताया गया है बस, इतना काफी है। इतने-भर से काम खत्म! कभी-कभी लगता है कि इन सबके नीचे अगर बच्चे अपने-अपने सवालों के डायनामाइट लगा सकें तो क्या हो! गनीमत थी कि वे ऐसा नहीं करते या ऐसा नहीं कर पाते। और हमारा काम आसानी-से चलता रहता है।

उस वक्त उस बच्चे के चेहरे पर जो सवाल था, उसकी गूँज में मैं हैरान था।

"तुम सिर्फ यही पूछने के लिए भरी दोपहर में आए हो?"

"जी सर।"

"तुम्हारे पिता क्या करते हैं?"

"वे पीडब्ल्यूडी की गैंग में सड़क मज़दूर हैं। सड़क मरम्मत का काम करते हैं। मेरे नाना भी यही करते हैं। इसी गाँव में रहते हैं।" ये बताने के बाद उसकी आँखों में उसका सवाल फिर से झिलमिलाने लगा था।

"ऐसा इसलिए बेटा कि ईसा पूर्व में सन् उलटे चलते हैं।" यह मेरा

जवाब था। हालाँकि, कहने के बाद ही लगा था कि यह जवाब ज़रूर है लेकिन उस बच्चे के हिसाब से कोई बहुत ठीक-सा जवाब नहीं है। उसका चेहरा भी इस बात की तस्दीक कर रहा था। एक पल के लिए समझ में नहीं आया कि और किस तरह से बताया जाना चाहिए, या जवाब को और किस तरह से खोला जाना चाहिए। जवाब को डीकोड करना! जो कुछ कहा गया था, वह एक तरह से सूत्र था। सूत्र कहे-बोले जा सकते हैं, रटे जा सकते हैं। लेकिन उनके पीछे की अवधारणा समझने के लिए उनके अर्थों को खोलना ज़रूरी होता है। शिक्षक के लिए एक चुनौती यह भी होती है। बच्चे की समझ के स्तर तक उतरकर अर्थ को इस तरह खोलना कि बिना सपाट हुए बात समझ में आ सके। किताबें यह काम नहीं करतीं। उनमें सब कुछ एक तरह से मानकीकृत और लगभग सूत्रात्मक होता है। ठस्सम-ठस्स भरा हुआ। परिभाषानुमा। और परिभाषाएँ आम तौर पर खुली नहीं होतीं। उन्हें खोलना पड़ता है।

बहरहाल, मेरे सामने अपने ही जवाब को खोलने की चुनौती थी। पढ़ाने के दौरान इस तरह की चुनौतियाँ अचानक और अक्सर आया करती हैं। और अमूमन उनसे उसी वक्त निपटना भी पड़ता है। अगर बच्चों की जिज्ञासा के तेज़ उफान का सही इस्तेमाल करना हो तो!

"बैठो!" मैंने ज़ोर देकर उसे अपने तख्त पर साथ बिठाया। उसके हाथ की किताब एक तरफ रख दी। बताया कि बाईं ओर संख्याएँ किस तरह से उल्टी चलती हैं! संख्याएँ तो उल्टी चलती हैं लेकिन समय सीधा चलता है। इसलिए ईसा पूर्व सन् 80 या ऐसे ही किसी सन् में पैदा हुआ व्यक्ति उससे छोटे या कम लगने वाले सन् मतलब 15-20 में मरेगा। शून्य मतलब एक तरह से ईस्वी सन् शुरू होने के आसपास का वक्त!

मैं अपनी तरफ से सब कुछ कह चुका था। अर्थ को जितना खोल सकता था, खोल चुका था। अब मेरे पास और ज़्यादा कुछ कहने-बताने को नहीं था। अपने-आप में यह एक निरीहता का क्षण था। शिक्षकीय काम में कई बार निरीहता के ऐसे क्षण भी आते रहते हैं, जहाँ पहुँचने के बाद शिक्षक को लगता है कि वह अब आगे कुछ नहीं कर सकता! सिवाय दोहराने या लौटने के! एक तरह का *डेड एंड*/ अन्धी खाई। हो सकता है कि इस खाई को फलाँगने पर कुछ नया चमकता हुआ मिल जाता हो! लेकिन बहुत कम ही इस तरह से खाई को फलाँगना हो पाता है!

आया समझ में?!

तो इस वक्त मेरे लिए भी निरीहता का क्षण या बिन्दु आ चुका था। जहाँ पहुँचकर शिक्षक छात्रों से अक्सर पूछते रहते हैं, "आया समझ में?!"

वैसे यह 'आया समझ में' शिक्षकों का अमूमन एक तरह का तकिया कलाम हुआ करता है जिसे हर दूसरे-चौथे वाक्य के बाद वे दोहराते रहते हैं। बिना ज़्यादा कुछ समझाए! जिसका पूरी क्लास सामूहिक नारे की तरह जवाब दिया करती है – 'जी सर!', 'जी गुरुजी!' जबकि न तो गुरुजी ने कुछ समझाया होता है और न छात्रों ने कुछ समझा होता है! बस एक रस्म होती है जो चलती रहती है। बच्चों के जवाब 'जी सर' के बाद शिक्षक जानने की कोशिश भी नहीं करते कि हकीकत में समझ में आया भी है या नहीं! अगर आया है, तो क्या और कितना!!

दरअसल, शिक्षक मानकर चलता है कि उसने तो समझा दिया और बच्चों को समझ में आ भी गया होगा! कभी यह शिक्षक के मन का चोर भी होता है। वह ऊपर से मान लेता है कि उसने समझा दिया है। जबकि उसके भीतर कहीं यह एहसास होता है कि न तो उसने समझाने जैसा विशेष कुछ किया है और न ही बच्चों को पूरी तरह से समझ में ही आया है। ऐसे में ही, उसके मुँह से अचानक निकलता है 'आया समझ में?!' जिसका हमेशा जवाब स्वीकृति में मिलता है। आदतन। बच्चों को आदत हो चुकी होती है कि इस सवाल का जवाब उन्हें स्वीकृति में ही देना है। हमारे स्कूलों का रूटीन ढाँचा यही बन चुका है। मैं खुद शुरू में यही करता रहा था। फिर धीरे-धीरे समझ में आया कि यह मेरी निजी असफलता है। अक्षमता भी। जो मुझे पूछना पड़ रहा है कि उन्हें समझ में आया अथवा

नहीं! जबकि होना तो यह चाहिए कि अगर बच्चों को समझ में आ गया है तो वह उनके चेहरे पर नज़र आए और नहीं आया हो तो वे खुद कहें!

बहरहाल, उस वक्त मैंने उस बच्चे से भी पूछना चाहा कि उसके सवाल का जवाब ठीक से मिला या नहीं! लेकिन, रोक लिया। सोचने लगा कि उस डेड एंड पर मैं और क्या कर सकता हूँ! एक बार बच्चे का चेहरा देखा। वहाँ कुछ देर हल्का-सा धुँधलका फैला रहा। बच्चा कागज़ पर मेरी बनाई समय-रेखा को देखता रहा। फिर धुँधलके में थोड़ी-सी रोशनी फूटी। धुँधलका छटा। मुस्कराहट उभरी। मुस्कराहट जिसमें खुशी थी। जान लेने की खुशी!

"अच्छा, ऐसा है, सर!" मेरी ओर देखकर कहा। अब पूरा चेहरा मुस्कराहट में नहाया था। उसने अपनी किताब के साथ संख्या-रेखा वाला कागज़ भी उठा लिया और निकल गया। पहली बार मैंने जाना कि सही तरह से जान लेने का आनन्द क्या होता है! हालाँकि, इस तरह के आनन्द के क्षण छात्र जीवन में कभी-कभी ही आते हैं। मतलब, जानने का वह बिन्दु कम ही बार छुआ जा पाता है जहाँ पहुँचकर वैसा आनन्द महसूस होता है। बहुत सम्भव है कि मध्यकाल के सन्त-कवि ज्ञान के इसी आनन्द की बात करते रहे हों। आध्यात्मिक आनन्द! उनके लिए ज्ञान का स्वरूप ही आध्यात्मिक था। इसलिए उससे मिलने वाला आनन्द भी आध्यात्मिक था! यह लगभग किसी परिकल्पना जैसा प्रश्न हो सकता है, अव्यावहारिक एवं अस्वाभाविक भी कि हम अपने स्कूली ढाँचे में सीखने-सिखाने को आखिर इस तरह से आनन्ददायक क्यों नहीं बना पाए, या ऐसा शैक्षणिक वातावरण क्यों नहीं निर्मित कर पाए कि बच्चों के जीवन में आनन्द के ऐसे क्षण लगातार आते रहें। वहाँ हमेशा सूखा नहीं पड़ा रहता। बहरहाल, बच्चा चला गया। मैं उसके द्वारा अनुभूत आनन्द के उजाले में नहाता कुछ देर चुपचाप बैठा रहा।

किस्सा मुख्तसर, बच्चों में समय-बोध पैदा करने के लिए मैंने कोशिश की कि ईसा के पूर्व के समय की गणना के ढंग को उनके सामने पहले साफ किया जाए! भले ही उन्हें वह गुत्थी न लगती हो!

एक के बाद दो कैसे?

समय की तरह बच्चों के सामने लम्बी दूरियों के साथ भी यही दिक्कत रहती है। हज़ार वगैरह किलोमीटर की दूरियों को तो वे समझ लेते हैं लेकिन इसके आगे के साथ उलझ जाते हैं। गणित में भले ही लाखों-करोड़ों के सवाल हल कर लेते हों! अजीब भी लगता है कि बिना उन संख्याओं के असली अर्थ समझे उनसे जुड़े सवाल कैसे हल किए जा सकते हैं! क्या सिर्फ यांत्रिक अभ्यास के

चलते! मैंने अपने कुछेक शिक्षक साथियों से भी इस बारे में चर्चा की थी। उनका कहना था कि सीखते वक्त कतई ज़रूरी नहीं होता कि बच्चों के लिए सभी कुछ साफ भी हो! वे सीखने की प्रक्रिया में धीरे-धीरे पिछली बातों को समझते जाते हैं। सारी बातों को एकसाथ और तत्काल समझ लिए जाने की उनसे उम्मीद नहीं की जा सकती। ये थे कन्हैयालाल सूर्या! गणित और विज्ञान के शिक्षक। जैसा पहले बताया, होशंगाबाद विज्ञान से जुड़े हुए। मानकुण्ड स्कूल में जब से होशंगाबाद विज्ञान या बाल विज्ञान कार्यक्रम शुरू हुआ तभी से इससे जुड़े हुए थे। इस कार्यक्रम के बन्द होने तक इससे जुड़े रहे। ठीक नज़दीक के अरलावदा स्कूल के गणित-विज्ञान शिक्षक राधेश्याम त्रिवेदी की तरह। दोनों महूखेड़ा से आते थे और दोनों ने ही इस विज्ञान कार्यक्रम के सारे प्रशिक्षण लिए थे।

बहरहाल, सूर्याजी ने उस वक्त अपनी कही बात को ज़्यादा साफ करने के लिए एक उदाहरण देते हुए कहा था कि एक के बाद दो आता है, यह तय है लेकिन नया गणित यह भी कहता है कि एक और दो के बीच अनन्त संख्याएँ हैं। ऐसे में सवाल यह पैदा हो सकता है कि जब एक के बाद आने वाली ये अनन्त संख्याएँ खत्म होंगी तभी दो आएगा न! लेकिन संख्याएँ चूँकि अनन्त हैं इसलिए कभी खत्म तो होंगी नहीं। ऐसे में दो कब और कैसे आएगा! लेकिन दो आता है। बल्कि सिर्फ दो ही नहीं, अगली सारी संख्याएँ आती चली जाती हैं, इसी क्रम में! और बच्चे इन दोनों बातों में किसी तरह का अन्तर्विरोध नहीं देखते!

सूर्याजी की बात का सिरा पकड़ मुझे अपनी गुत्थी सुलझाने में थोड़ी-सी मदद मिली। लगा कि प्राथमिक रूप में कभी-कभी सिर्फ जानकारियों को बच्चों तक पहुँचाना शायद उतना गलत नहीं है। शायद समझ बनने का रास्ता भी इसी में से आगे निकल सकता है।

प्रकाश कान्त: हिन्दी से एम.ए. और रांगेय राघव के उपन्यासों पर पीएच.डी. की है। शीर्ष पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ एवं आलेख प्रकाशित। चार उपन्यास – *अब और नहीं, मक्तल, अधूरे सूर्यों के सत्य, ये दाग-दाग उजाला*; कार्ल मार्क्स के जीवन एवं विचारों पर एक पुस्तक; तीन कहानी संग्रह – *शहर की आखिरी चिड़िया, टोकनी भर दुनिया, अपने हिस्से का आकाश*, संस्मरण – *एक शहर देवास, कवि नईम और मैं*, और फिल्म पर एक पुस्तक – *हिंदी सिनेमा: सार्थकता की तलाश* प्रकाशित हो चुकी हैं। लगभग 30 वर्षों तक ग्रामीण शालाओं में अध्यापन।

सभी चित्र: उर्वी सावंत: सृष्टि इंस्टिट्यूट ऑफ आर्ट एण्ड डिज़ाइन टेक्नोलॉजी, बैंगलोर से पढ़ाई। चित्रकार, विज़ुअल कलाकार और डिज़ाइनर हैं।

यह लेख *एकलव्य* द्वारा प्रकाशित पुस्तक *सामाजिक अध्ययन नवाचार* से साभार।